

## भाषा से भाषा और भाषा में भाषा (भारतीय भाषाओं के वैविध्य का यथार्थ)

माधव हाड़ा

विदेशी या बाहरी नज़रिये के अनुसार हमारा भाषायी परिदृश्य बहुत विचित्र है। यहाँ कहते हैं कि बारह कोस पर बोली बदलती है और यह सच है। हमारे यहाँ एक बोली के ही कई क्षेत्रीय रूप हैं। यहाँ बोलियाँ और भाषाएँ एक दूसरे से जुड़ी हुई भी हैं और कुछ मामलों में ये अलग भी हो जाती हैं। असमिया बंगला की एक बोली भी है और अलग भाषा भी है। हमारे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों की रचनाएँ भी एकाधिक भाषाओं में मिलती हैं। ये गुजराती में हैं, तो इनके राजस्थानी और ब्रज रूपांतरण भी मिलते हैं और यदि ये मराठी में हैं, तो ये गुजराती और अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध हैं। स्थिति यह है कि इन कवियों की रचनाओं पर एकाधिक भाषाओं के लोग अपनी होने का दावा करते हैं। उपनिवेशकाल में भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण करने वाले जार्ज ग्रियर्सन को यह सब देख कर बड़ा अचंभा हुआ। सर्वेक्षण के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि “भारत सचमुच विरोधी तत्त्वों की भूमि है और भाषाओं पर विचार करते समय तो ये तत्त्व और भी दृष्टिगोचर होते हैं।”<sup>1</sup> ग्रियर्सन से पहले मध्यकाल में हुए अमीर खुसरो और अबुल फ़जल, दोनों भारत में पैदा हुए थे, लेकिन यहाँ की भाषाओं के संबंध में उनका नज़रिया भी बाहरी था। अमीर खुसरो के अनुसार “यहाँ के प्रत्येक देश में, ऐसी विचित्र एवं स्वतंत्र भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनका एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है।”<sup>2</sup> इसी तरह अबुल फ़जल का भी मानना था कि “हिन्दुस्तान के विस्तृत भूभाग में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। इनमें पर्याप्त अंतर है तथा ये परस्पर बोधगम्य भी नहीं हैं।”<sup>3</sup>

भारतीय भाषाओं के ‘विविध’, ‘परस्पर अबोधगम्य’, ‘परस्पर विरोधी’ आदि होने संबंधी मध्यकालीन और उपनिवेशकालीन विदेशी अध्येताओं का यह नज़रिया ठीक नहीं है, लेकिन विडंबना यह है कि अब अधिकांश भारतीय अध्येताओं का नज़रिया भी यही हो गया है। यह नज़रिया बाहरी और विदेशी नज़रिया है। कोई भी विदेशी या बाहरी व्यक्ति अपने बुनियादी भाषायी संस्कार और आदत के कारण हमारी खास ढंग की भाषायी स्थिति को इसी तरह देखेगा-समझेगा और इसी तरह के निष्कर्ष पर पहुँचेगा। जार्ज ग्रियर्सन के भारत प्रेम, भारत ज्ञान और वैदुष्य पर संदेह नहीं किया जा सकता। इस मामले में वे किसी भी देशी अध्येता से आगे हैं, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा उनके संस्कार यूरोपीय थे और इस कारण समस्त ‘पूर्व’ के बारे

में उनकी राय अच्छी और ऊँची नहीं थी। इसको लेकर उनके मन में कुछ पूर्वाग्रह थे। उनका आग्रह था कि आधुनिक भारत को 'पश्चिमी ज्ञान के प्रकाश' में ही समझा जा सकता है। उन्होंने भारत के भाषा सर्वेक्षण के अपने निष्कर्षों में इस संबंध में जो राय ज़ाहिर की पश्चिम से अभिभूत हमारे 'आधुनिक' अध्येताओं ने उस पर गौर ही नहीं किया। उन्होंने आग्रहपूर्वक इस लोकप्रिय कथन और धारणा को खारिज़ कर दिया कि 'प्रकाश पूर्व से आता है।' उन्होंने लिखा कि "प्रकाश पूर्व से आता है, किंतु अभी इसमें तथा उस काल्पनिक प्रभात में जो अभी आने वाला है पर आया नहीं है, अंतर स्पष्ट करने के लिए हमें ज्ञान की निरंतर खोज में अनेक वर्षों तक प्रवृत्त होना पड़ेगा। अब तक विद्वानों ने भारत की प्राचीन भाषाओं का तथा विचारधाराओं का ही अध्ययन किया है और उसी में आधुनिक भारत का भी रूप देखा है। किंतु भारत का वास्तविक ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता जब तक हम पश्चिमी ज्ञान के प्रकाश में यहाँ की बत्तीस करोड़ जनता की आशा, भय और विश्वास का अध्ययन न करें। इसके लिए आधुनिक भाषाओं और बोलियों का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है।"<sup>4</sup> ज़ाहिर है, जिस नज़रिये और आग्रह के साथ वे भारतीय भाषाओं के अध्ययन में प्रवृत्त हुए, वो सजग भाव से विदेशी और बाहरी था और उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले वे भारतीय भाषाओं की सही तस्वीर पेश नहीं करते। विडंबना यह है कि भारतीय भाषाओं के बारे में उनकी राय मान्य होकर अब हमारी समझ का हिस्सा हो गई है। अब हम अपनी भाषाओं के संबंध में उनके लगभग मान्य हो गए वर्गीकरण और विभाजन के साँचों-खाँचों में ही सोचते-समझते हैं।

भारतीय भाषाओं के परस्पर संबंध और वैशिष्ट्य को अपनी भाषा की आदत और संस्कारवाला बाहरी या विदेशी व्यक्ति अच्छी तरह नहीं समझ सकता, क्योंकि हमारे यहाँ सांस्कृतिक वैविध्य बहुत है और उसके अनुसार भाषा में क्षेत्रीय विशेषताओं की भी बहुतायत है। कई बार ये क्षेत्रीय विशेषताएँ इतनी अधिक मुखर और प्रमुख होती हैं कि इनसे भाषा के अलग होने भ्रम हो जाता है। जार्ज ग्रियर्सन, अमीर खुसरो और अबुल फ़जल सहित कई विदेशी नज़रिये वाले लोगों को ऐसा भ्रम हुआ था। उन्होंने क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताओं को आधार मानकर भाषा को अलग होने का दर्जा दे दिया, जबकि ऐसा था नहीं। कोई सामान्य भारतीय भी यह आसानी से समझ जाएगा कि उसकी भाषा उसके अपने इलाके से बाहर कुछ बदल तो जाएगी, लेकिन अलग नहीं होगी। उसे यह भी अच्छी तरह पता है कि अपने इलाके या 'देश' से बाहर भी उसे संवाद में कोई खास असुविधा नहीं होगी। ऐसा नहीं है कि यह स्थिति पूरे देश में हो। उन इलाकों में जहाँ किसी

पहाड़ आदि की भौगोलिक बाधा या रेस से विभाजक बदलाव हो, तो भाषाएँ अलग भी होती हैं, लेकिन अधिकांश इलाकों में जहाँ संपर्क और संवाद की निर्बाध निरंतरता है, वहाँ एक ही भाषा बदलती हुई बहुत दूर तक जारी रहती है। कभी-कभी यह इतनी बदल जाती है कि एक छोर की भाषा दूसरे छोर पर जाकर अलग जैसी भी लगने लगती है। फैजाबाद-सुल्तानपुर की अवधी ही आरा-बलिया-छपरा पहुँचकर भोजपुरी हो जाती है।

भारत का भाषायी वैविध्य 'विचित्र' के रूप में जिस तरह से प्रचारित है, यह दरअसल वैसा है नहीं। यह विचित्र हमें भाषायी वर्गीकरण और विभाजन की औपनिवेशिक समझ के कारण दिखाई पड़ता है। उपनिवेशकाल से पहले तक जब भारतीय भाषाओं को औपचारिक पहचान नहीं मिली थी, तब यहाँ का भाषायी परिदृश्य अलग था। यहाँ की भाषाएँ और बोलियाँ एक-दूसरे से इस तरह से संबद्ध थीं कि इनको पृथक् और वर्गीकृत करना कठिन था। भारत के भाषा सर्वेक्षण के दौरान जार्ज ग्रियर्सन को इसी तरह की मुश्किल का सामना करना पड़ा। उनसे पहले तक तो यूरोपीय विद्वान् एक-दूसरे से भिन्न चरित्र और स्वभाव वाली भारतीय भाषाओं की भी इनकी परस्पर संबद्धता के कारण सदियों तक कोई अलग पहचान नहीं बना पाए। लंबे समय तक शब्द समूह की समानता के आधार पर कतिपय दक्षिण भारतीय भाषाओं को भी संस्कृत से उत्पन्न माना जाता रहा।<sup>5</sup> जार्ज ग्रियर्सन ने खींच-खाँचकर भारतीय भाषाओं का जो वर्गीकरण और विभाजन किया उससे पहली बार भाषाओं को एक-दूसरे से अलग पहचान मिली। विडंबना यह है कि खींच-खाँचकर कर किया गया वर्गीकरण और विभाजन तो हमारी भाषायी समझ का हिस्सा हो गया, लेकिन भारतीय भाषाओं की परस्पर घनिष्ठ संबद्धता संबंधी कई बातें जो सर्वेक्षण के दौरान सामने आईं, उन पर कम लोगों का ध्यान गया।

भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि वे एक-दूसरे से कहाँ और कैसे अलग होती हैं, यह तय करना मुश्किल काम है। खास बात यह है कि यह बात इन भाषाओं की जीने और बरतनेवाला ही अच्छी तरह समझ सकता है। अक्सर वे दूसरी भाषा की सीमा शुरू होने से पहले ही उसके जैसी होने लगती हैं। ग्रियर्सन ने भी सर्वेक्षण के दौरान यह महसूस किया। उन्होंने इसके प्रतिवेदन के पूर्व कथन में भारत में क्षेत्रीय भाषाओं की सीमाओं की चर्चा करते हुए लिखा कि "सामान्यतः जब तक विशेष रूप से जाति (रेस) एवं संस्कृति में अंतर न हो या बड़ा पहाड़ या प्राकृतिक बाधा उपस्थित न करे, तब तक भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे में विलीन हो जाती हैं।"<sup>6</sup> मीरां सहित कई प्राचीन और मध्यकालीन कवियों की कविता की भाषा में गुजराती, राजस्थानी,

ब्रज आदि अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं। ये एक ही भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं, जो कुछ दूर चलकर एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। दरअसल इन कवियों की भाषा में एक ही भाषा के एक-दूसरे संबद्ध और एक-दूसरे में घुले-मिले क्षेत्रीय रूप हैं, जो अब औपनिवेशिक भाषायी समझ के कारण हमें अलग-अलग भाषाओं के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

भाषा को अपनी क्षेत्रीय अस्मिता के साथ जोड़कर देखने का चलन यहाँ उपनिवेशकाल में शुरू हुआ। उपनिवेशकाल से पहले तक तो भारत में भाषा के क्षेत्रीय रूपों को पहचान देने का आग्रह लगभग नहीं था। संस्कृत के बरक्स प्राच्य प्राकृत की मौजूदगी के संकेत 400 ई. से मिलने लगते हैं।<sup>7</sup> इसमें मैं भी क्षेत्रीय वैविध्य था। उद्योतन सूरि की आठवीं सदी की रचना *कुवलयमाला* के अनुच्छेद 242 में 18 बोलियों का क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ सोदाहरण नामोल्लेख हैं, लेकिन खास बात यह है कि यहाँ ये पृथक् अस्तित्व वाली भाषाओं के रूप में उल्लिखित नहीं हैं। यहाँ भाषा एक है, लेकिन यह अलग-अलग क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ बोली जा रही है।<sup>8</sup> भाषा में क्षेत्रीय वैशिष्ट्य होता है और यह यहाँ भी सदियों से है, लेकिन इस आधार पर अलग भाषा की पहचान और उसके नामकरण की सजगता यहाँ लगभग नहीं के बराबर थी। भाषाएँ यहाँ इस तरह एक-दूसरे से जुड़ी और एक-दूसरे में घुली-मिली थीं कि कि इनको अपनी अस्मिता के साथ जोड़ कर देखना संभव भी नहीं था। भारतीय भाषाओं को उनकी क्षेत्रीय विशेषताओं के आधार पर पहली बार वर्गीकृत और विभक्त करने वाले जार्ज ग्रियर्सन ने भी भाषा के मामले में भारतीयों के इस खास नज़रिये को लक्ष्य किया। उन्होंने सर्वेक्षण के अपने प्रतिवेदन के पूर्वकथन में एक जगह लिखा कि “एक सामान्य भारतीय ग्रामीण यह नहीं जानता कि जिस बोली को वह बोल रहा है उस का नाम भी है। वह अपने यहाँ से पचास मील दूरी पर बोली जानेवाली बोली का नाम तो बता सकता है, किंतु जब उसकी बोली का नाम पूछा जाता है तो वह कह उठता है कि “ओह, मेरी बोली का तो कुछ नाम नहीं है, यह तो विशुद्ध भाषा है।”<sup>9</sup> भारत में देशभाषा अथवा बोलियों की नाम संज्ञाओं को मान्यता और स्वीकृति उपनिवेशकाल में मिली। यहाँ के लोग अपनी भाषा को देशभाषा या बोली कहते थे या फिर दूसरे लोग उसका क्षेत्र के आधार पर कोई नाम कौशली, गुजराती आदि रख देते थे। हमारे उन प्राचीन और मध्यकालीन कवियों, जिनकी कविता की लोकप्रियता उत्तर भारत के बड़े भूभाग में थी, की अब यही विशेषताएँ मुखर होकर अस्मिता का हिस्सा हो जाने के कारण हमें अलग भाषाओं के रूप में दिखाई पड़ती हैं।

पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी के अधिकांश उत्तर भारतीय साहित्य को आज की राजस्थानी गुजराती, ब्रज भोजपुरी आदि भाषायी पहचानों में देखना गलत है। दरअसल पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में आज की प्रांतीय इकाइयों राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, बिहार आदि में जो भाषा इस्तेमाल हो रही थी, वह कुछ क्षेत्रीय विशेषताओं को छोड़कर लगभग एक थी। जार्ज ग्रियर्सन ने भी उपनिवेशकाल में भाषाओं का वर्गीकरण और विभाजन तो किया, लेकिन वे इस सच्चाई से परिचित थे कि क्षेत्रीय भिन्नताओं के साथ तमाम उत्तर भारत में एक ही भाषा इस्तेमाल होती थी। सर्वेक्षण के दौरान वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि “राजपूताना, मध्यभारत तथा गुजरात के विस्तृत क्षेत्रों में दैनिक जीवन में व्यवहृत शब्द एवं शब्द समूह प्रायः समान है। हाँ, उच्चारण में अंतर अवश्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है और सामान्य लोगों का विश्वास भी यही है कि गंगा के समस्त कांठे में, बंगाल और पंजाब के बीच, अपनी अनेक स्थानीय बोलियों सहित केवल एक मात्र प्रचलित भाषा हिन्दी ही है।”<sup>10</sup> इस भाषा की अलग-अलग और स्पष्ट क्षेत्रीय पहचानें बहुत बाद में विकसित हुईं। गुजराती साहित्य के एक विशेषज्ञ आई.जे.एस. तारपुरवाला ने पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी की संत-भक्त कवयित्री मीरां की कविता के भाषिक वैविध्य के कारणों की बहुत युक्तिसंगत पड़ताल की है। उनके अनुसार “मीरां पर गुजरात, राजपूताना और पूरा मथुरा क्षेत्र अपना दावा करता है, लेकिन जिस समय में वह जी रही थी, उस समय इन क्षेत्रों में केवल एक ही भाषा-पुरानी गुजराती या पुरानी पश्चिमी राजस्थानी प्रचलित थी, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उनके पद अब उन तमाम क्षेत्रीय भाषाओं में मिलते हैं, जिन्होंने इस भाषा का स्थान ले लिया था।”<sup>11</sup> कबीर की भाषा के संबंध में भी भोलानाथ तिवारी की यही राय है। उन्होंने साफ़ लिखा कि “विभिन्न विद्वानों ने कबीर की भाषा को कोई एक बोली राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि माना है। ऐसा मानना उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कबीर का रचनाकाल मोटे रूप से ईसा की पंद्रहवीं सदी है। उस समय तक ब्रज, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि पूर्णतया अलग नहीं हुई थी, जिस रूप में आज है।”<sup>12</sup> दरअसल हुआ यह है कि कबीर, मीरां आदि की रचनाएँ राजस्थान, गुजरात, मालवा, ब्रज आदि में उस समय लगभग समान रूप से व्यवहृत भाषा में हुईं, लेकिन जैसे-जैसे क्षेत्रीय भाषिक इकाइयों का पृथक् विकास हुआ, ये रचनाएँ इन इकाइयों के अनुसार राजस्थानी, ब्रज, गुजराती आदि में ढलती गईं।

हमारे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों की कविताएँ आज के हिसाब से एकाधिक भाषाओं में मिलती हैं। मीरा की कविता इसका अच्छा उदाहरण है। यह राजस्थानी के साथ गुजराती और ब्रज आदि भाषाओं में भी मिलती है। कबीर सहित अन्य संत कवियों की भाषा के संबंध में भी यही कहा जाता है। कुछ विद्वान् इनकी कविता को आज की भाषायी पहचानों में देखना-समझना चाहते हैं। यह ग़लत है। इन कवियों की भाषा की मूल भाषा अपभ्रंश की अंतिम अवस्था में विकसित वह देश भाषा है, जिसका व्यवहार कुछ विशेषताओं के साथ लगभग तमाम उत्तर भारत में होता था। मध्यकालीन वैयाकरणों ने इस भाषा का नाम सब जगह देश भाषा ही प्रयुक्त किया है। एल.पी. तेस्सीतोरी आदि कतिपय आधुनिक विद्वानों ने इसको 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी', या 'जूनी या पुरानी गुजराती' आदि नाम भी दिए हैं। दरअसल पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में राजस्थानी, गुजराती और ब्रज अलग भाषाएँ नहीं हैं और आगे उपनिवेशकाल तक ये एक ही भाषा की अलग-अलग बोलियाँ ही हैं। जार्ज ग्रियर्सन के बाद इन भाषाओं की उत्पत्ति और पहचान पर पहली बार विस्तार से विचार करने वाले एल.पी. तेस्सितोरी के शब्दों में “प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी शौरसेन अपभ्रंश की पहली संतान है और साथ ही उन आधुनिक बोलियों की माँ है, जिनको गुजराती तथा मारवाड़ी के नाम से जाना जाता है।”<sup>13</sup> आगे वे कई प्राचीन रचनाओं के साक्ष्य से इस निष्कर्ष पहुँचे कि “जिस भाषा को मैं 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' के नाम से पुकारता हूँ, उसमें वे सभी तत्त्व हैं, जो गुजराती के साथ-मारवाड़ी के उद्भव के सूचक हैं और इस तरह वह भाषा स्पष्टतः इन दोनों की सम्मिलित माँ है।”<sup>14</sup> मुनि जिनविजय ने भी गुजरात विद्यापीठ के अपने कार्यकाल में तैयार की गई *पुरानी गुजराती गद्य संदर्भ* नामक एक पाठ्य पुस्तक में तेरहवीं से पंद्रहवीं सदी तक के 300 वर्षों के दौरान के गद्य के नमूने संकलित किए। इनकी भाषा 'प्राचीन गुजराती' के आगे कोष्ठक में उन्होंने स्पष्ट नामोल्लेख किया 'अर्थात् पश्चिमी राजस्थानी'।<sup>15</sup> गुजराती भाषा के मर्मज्ञ और विद्वान् स्वर्गीय झवेरचंद्र मेघाणी के विचार भी इस धारणा को पुष्ट करते हैं। उन्होंने इस संबंध में एक जगह लिखा है कि "मेड़ता की मीरा इसी में पदों की रचना करती और गाया करती थी। इन पदों को सौराष्ट्र की सीमा तक के मनुष्य गाते तथा अपना कर मानते थे। चारण का दूहा राजस्थान की किसी सीमा में से राजस्थानी भाषा में से अवतरित होता तथा कुछ वेश बदलकर काठियावाड़ में घर-घराऊ बन जाता। नरसी मेहता गिरनार की तलहटी में प्रभु पदों की रचना करता और ये पद यात्रियों के कंठों पर सवार होकर जोधपुर, उदयपुर पहुँच जाया करते। इस ज़माने का पदा उठाकर यदि आप आगे बढ़ेंगे, तो आपको कच्छ, काठियावाड़ से लेकर प्रयागपर्यंत भूखंड पर फैली हुई एक भाषा

दृष्टिगोचर होगी।<sup>16</sup> आगे उन्होंने और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “उसी की पुत्रियाँ फिर ब्रजभाषा, गुजराती और आधुनिक राजस्थानी का नाम धारण कर स्वतंत्र भाषाएँ बनीं।”<sup>17</sup> जार्ज ग्रियर्सन ने भी पन्द्रहवीं सदी में राजस्थानी और गुजराती के एक होने की बात कही है। उन्होंने स्पष्ट लिखा कि “गुजराती का राजस्थानी से बहुत निकट संबंध है। यहाँ तक कि पंद्रहवीं शताब्दी में मारवाड़ तथा गुजरात की भाषा एक थी। इसके बाद ही इसने इन दो भाषाओं का रूप धारण किया; किंतु मूलतः इन दोनों बोलियों में अत्यल्प ही अंतर है।”<sup>18</sup> इसको उन्होंने एक उदाहरण देकर पाद टिप्पणी में और स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा कि “सन् 1455-56 में मारवाड़ राज्य के जालोर स्थान के एक कवि ने ‘कान्हड़देव’ शीर्षक प्रबंध लिखा था। सन् 1912 में इसको लेकर गुजरात में एक वादविवाद चल पड़ा कि यह पुरानी गुजराती का प्रबंध है अथवा मारवाड़ी का। सच यह है कि यह दोनों में से किसी का नहीं है, अपितु कवि की उस मातृभाषा में है, जो बाद में इन भाषाओं के रूप में प्रकट हुई।”<sup>19</sup> मीरां सहित अधिकांश मध्यकालीन कवियों की कविता की भाषा के संबंध में भी यही सच है। यह राजस्थानी, गुजराती या ब्रज नहीं है, यह पंद्रहवीं सदी की उसकी वह मातृभाषा है, जिसकी पहचान अब क्षेत्रीय विशेषताओं के मुखर हो जाने के कारण अलग-अलग भाषाओं के रूप हो गई है। पद्मनाभ के *कान्हड़देवप्रबंध* की भाषा पुरानी पश्चिमी राजस्थानी है, इसलिए तेस्सीतूरी के अनुसार उसके समकालीन नरसिंह मेहता की भाषा भी यही रही होगी। उसकी कविता का आधुनिक गुजराती में रूपांतरण बहुत आगे चलकर हुआ।<sup>20</sup> मीरां जो नरसिंह मेहता के साथ गुजराती की दूसरी बड़ी भक्त कवयित्री है और उसके कुछ समय बाद ही हुई है, की रचनाएँ भी इसी भाषा में हुईं। आगे चलकर ये अलग-अलग भाषायी पहचानों के बनने के साथ आधुनिक गुजराती या राजस्थानी में ढलती गईं। जहाँ तक मीरां की कविता के ब्रज में मिलने का सवाल है तो ब्रज और राजस्थानी भी मध्यकाल में अलग भाषाएँ नहीं थीं। राजस्थानी के प्राचीन साहित्यिक रूप पिंगल में ब्रज शामिल है। ब्रज दरअसल पुरानी राजस्थानी का ही क्षेत्रीय विस्तार है। ये भाषायी पहचानें बाद में बनी यह इससे भी प्रमाणित है कि मध्यकालीन अधिकांश कवियों की कविता की भाषा एकरूप नहीं है। कोई पद संपूर्ण ब्रज में है, तो किसी पद में राजस्थानी और ब्रज एक साथ है और किसी पद में राजस्थानी के साथ कुछ शब्द या वाक्यांश गुजराती के भी आ गए हैं। मीरां के समय देश भाषाओं की पृथक् क्षेत्रीय पहचानें नहीं थीं, लेकिन धीरे-धीरे ये बनती गईं। मीरां के पद लोकप्रिय थे, इसलिए ये भी इनके अनुसार ब्रज, राजस्थानी और गुजराती होते गए। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि क्षेत्रीय भाषायी पहचानों के

अनुसार ढल जाने के बाद भी इनमें उस समय की भाषा के साक्ष्य मौजूद हैं। उसके ब्रज भाषा के पदों में राजस्थानी और राजस्थानी में गुजराती भाषा के शब्द और अर्थ रुढ़ियाँ इसी कारण हैं।

प्राचीन और मध्यकालीन कवियों की कविता को आज की अपनी-अपनी भाषायी पहचानों तक सीमित करने का आग्रह बढ़ गया है। मीरां का जन्म, लालन-पालन और विवाह राजस्थान में हुआ, इसलिए कुछ विद्वानों की धारणा है कि केवल राजस्थानी मीरां की भाषा है और इससे इतर भाषाओं की मीरां की रचनाएँ मीरां की रचनाएँ नहीं हैं। हीरालाल माहेश्वरी का मानना है कि “मीरां का अधिकांश जीवन राजस्थान में बीता। वह वहीं जन्मी और ब्याही गई। केवल जीवन के अंतिम दिन गुजरात में बीते। उसकी वृन्दावन यात्रा अथवा वहाँ निवास निराधार है। इस कारण शुद्ध गुजराती, शुद्ध पंजाबी और शुद्ध भोजपुरी भाषाओं में मिलने वाले पद अपने वर्तमान रूप में कदापि मीरां के नहीं हो सकते। शुद्ध ब्रजभाषा के पद भी संदेहास्पद ही हैं। अधिक से अधिक ऐसे पदों में मीरां की भावना भले ही सुरक्षित हो। मीरां की भाषा राजस्थानी थी।”<sup>21</sup> कमोबेश यही बात नरोत्तम स्वामी ने भी कही है। उनके अनुसार “मीरांबाई की कविता की भाषा राजस्थानी है, जो पश्चिमी हिन्दी का एक प्रधान विभाग है।.....मीरांबाई की भाषा में ब्रजभाषा का मिश्रण बहुत है। गुजराती की विशेषताएँ भी अनेक स्थान पर पाई जाती है। पंजाबी, खड़ी बोली, पूरबी आदि का आभास भी कई स्थानों पर होता है। उनके अनेक पद शुद्ध गुजराती में भी पाए जाते हैं, पर इसमें संदेह है कि वे उनके बनाए हुए हैं।”<sup>22</sup> इसी तरह के आग्रह अन्य प्राचीन और मध्यकालीन कवियों की भाषा के संबंध में भी है। इस तरह के आग्रह युक्तिसंगत नहीं हैं। दरअसल पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में का क्षेत्रीय आधार पर भाषाओं का विभाजन नहीं हुआ था, लेकिन आगे चलकर ये पहचानें कुछ हद तक बनती गईं। इन कवियों की विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित कविता भी इन पहचानों में ढलकर गुजराती, ब्रज, राजस्थानी आदि होती गई। साफ़ है कि इन कवियों की ब्रज या गुजराती या राजस्थानी में मिलने वाली कविता इनकी ही है। यह अलग बात है कि बाद में यह निरंतर चलन में रहने के कारण इन पहचानों में अलग भी दिखाई देने लगीं। मीरां की भाषा ब्रज मिश्रित राजस्थानी मानने वाले नरोत्तम स्वामी ने भी यह तो स्वीकार किया है कि मीरां के प्रचलित पदों की आधुनिक भाषा उसकी असल भाषा नहीं है। उन्होंने लिखा कि “मीरांबाई के पद जिस रूप में पाए जाते हैं ठीक उसी रूप में वे लिखे गए होंगे, यह कहना कठिन है। जो पद छपे हैं उनमें अधिकांश की भाषा आधुनिक हो गई है। पद गाने की चीज हैं और गानेवालों द्वारा गाते

समय फेरफार हो जाना बहुत संभव है। गाने वाले जनता को समझाने के लिए भी भाषा को आधुनिक कर देते हैं।”<sup>23</sup>

भारत में प्रजातीय विविधता के कारण भाषायी वैविध्य है, लेकिन इस वैविध्य को अंदरूनी या भारतीय नज़रिये से समझा जाए, तो नतीजे प्रचारित से अलग प्रकार के आएँगे। एक तो अधिकांश उत्तर भारतीय भाषाओं का उद्गम एक है। केवल क्षेत्रीय वैशिष्ट्य के कारण इस भाषा के कई रूप हो गए हैं और अब ये रूप क्षेत्रीय अस्मिता के साथ जुड़कर मुखर और प्रमुख भी हो गए हैं, अन्यथा इनका अधिकांश का व्याकरणिक गठन, शब्दावली और मुहावरा लगभग समान है। सदियों के सहजीवन और आदान-प्रदान के कारण यहाँ की भिन्न परिवार वाली भाषाएँ भी कुछ हद तक एक-दूसरे में घुल-मिल गई हैं। उनके शब्द समूह और मुहावरे भी एक दूसरे के निकट आ गए हैं। यहाँ लगता है कई भाषाएँ हैं, लेकिन असल में ऐसा है नहीं। थोड़ा बारीकी और पास से देखा जाए, तो लगता है जैसे यहाँ भाषा से भाषा है या फिर भाषा में भाषा है।

### संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. जार्ज ग्रियर्सन : *भारत का भाषा सर्वेक्षण*, खंड-1, भाग-1, (अनुवाद : उदयनारायण तिवारी), उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण, 1959, पृ. 379
2. जार्ज ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत, वही, पृ. 1
3. जार्ज ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत, वही, पृ. 3
4. जार्ज ग्रियर्सन : वही, पृ. 380
5. वही, पृ. 26
6. वही, पृ. 59
7. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : *राजस्थानी भाषा*, महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर, 1949, पृ.34
8. *कसिणे णिडुर-वयणे बहुक-समर-भुंजए अलज्जे य।  
‘अडडै त्ति उल्लवंते अह पेच्छइ गोल्लए तत्थ ॥1॥*

णय-णीङ्-संधि-विग्गह-पडुए बहु-जंपए य पयईए।  
 'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपिरे मज्झदेसे य ॥2॥  
 णीहरिय-पोडु-दुव्वण्ण-मडहए सुरय-केलि-तल्लिच्छे।  
 'एगे ले - जंपुल्ले अह पेच्छई मागहे कुमरो ॥3॥  
 कविले पिंगल-णयणे भोयण-कह-मेत्त-दिण्ण-वावारे।  
 'कित्तो किम्मो' पिय-जंपिरे य अह अंतवेए य ॥4॥  
 उत्तुंग-थूल-घोणे कणयव्वण्णे य भार-वाहे य।  
 'सरि पारि' जंपिरे रे कीरे कुमरो पलोएइ ॥5॥  
 दक्खिण्ण-दाण-पोरुस-विण्णाण-दया-विवज्जिय-सरीरे।  
 'एह तेहँ चवंते ढक्के उण पेच्छए कमरो ॥6॥  
 सललिय-मिउ-मद्वए गंधव्व-पिए, सदेस-गय-चित्ते।  
 'चउडय मे' भणिरे सुहए अह संधवे दिट्ठे ॥7॥  
 वंके जडे य जड्डे बहु-भोई कट्ठिण-णीण-सूणंगे।  
 'अण्प्पाँ तुप्पाँ भणिरे अह पेच्छइ मारुए तत्तो ॥8॥  
 घय-लोणिय-पुट्ठंगे धम्म-परे संधि-विग्गहं-णिउणे।  
 'णउ रे भल्लउं' भणिरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे ॥9॥  
 ण्हाओलित्त-विलित्ते कय-सीमंते सुसोहिय-सुगत्ते।  
 'अम्हं काउं तुम्हं' भणिरे अह पेच्छए लाडे ॥10॥  
 तणु-साम-मडह-देहे कोवणए माण-जीविणो रोद्धे।  
 'भाउय भइणी तुम्हे' भणिरे अह मालवे दिट्ठे ॥11॥  
 उक्कड-दप्पे पिय-मोहणे य रोद्धे पयंग-वित्ती य।  
 'अडि पाँडि मरे' भणिरे पेच्छइ कण्णडए अण्णे ॥12॥  
 कुप्पास-पाउयंगे मास-रुई पाण-मयण तल्लिच्छे।  
 'इसि किसि मिसि' भणमाणे अह पेच्छइ ताइए अवरे ॥13॥  
 सव्व-कला-पत्तट्ठे माणी पिय-कोवणे कट्ठिण-देहे।  
 'जल तल ले' भणमाणे कोसलए पुलइए अवरे ॥14॥

9. जार्ज ग्रियर्सन : *भारत का भाषा सर्वेक्षण*, खंड-1, भाग-1, , पृ. 39
10. वही, पृ. 45
11. 'इंट्रोडक्शन', *स्टडीज़ फ़्रोम गुजराती लिटरेचर*, वोल्यूम-1, कलकत्ता युनिवर्सिटी, कलकत्ता, 1924, पृ. XIII
12. 'कबीर की भाषा', *कबीर* (सं. विजयेन्द्र स्नातक), राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति, 2000. पृ. 241
13. 'प्रस्तावना', *पुरानी राजस्थानी* (अनुवाद : नामवरसिंह), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, 1955, पृ. 3
14. वही, पृ. 4
15. *श्रीतरुणप्रभाचार्यकृतषडावश्यकबालावबोधवृत्ति* (सं. प्रबोध बेचरदास पंडित), भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1976, पृ. Xii
- 16 'राजस्थानी साहित्य का परिचय' में उद्धृत, *राजस्थानी सबद कोस* (सं. सीताराम लालस), प्रथम खंड, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1962, पृ. 87
17. वही, पृ. 87
18. *भारत का भाषा सर्वेक्षण*, खंड-1, भाग-1, , पृ. 344
19. वही, पृ. 344
20. 'भूमिका', *पुरानी राजस्थानी* पृ. 10
21. *राजस्थानी भाषा और साहित्य*, आधुनिक पुस्तक सदन, कलकत्ता, 1960, पृ. 325
22. 'प्रस्तावना', *मीरां-मंदाकिनी*, युनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा, 1930, पृ. 15
23. वही, पृ. 15

संपर्क: बी-404, सिल्वर स्क्वायर अपार्टमेन्ट्स, न्यू विद्यानगर, हिरणमगरी, से.न.4, उदयपुर  
313 002

मोबाइल + 91 94143 25302 E-mail: madhavhada@gmail.com